गीता-सार

अध्याय १ (विषादयोग) –

- गीता का उद्देश्य स्वधर्म-पालन में बाधक मोह (स्वजन आसक्ति) का निवारण करना है।
- स्वधर्म प्रवाह अनुकूल, सहज, स्वाभाविक और शास्त्रविहित धर्म है, जो निम्न दो प्रकार का होता है -
    - आत्मा सम्बन्धी वर्ण-धर्म, जो न बदलने वाला है – जैसे जीवन का परम-लक्ष्य अर्थात् आत्मा को जान कर परमात्मा में स्थित होना, नैसर्गिक मर्यादा में स्थित रहना, आदि। यह आगामी बदलने वाले धर्म का आधार है।
    - शरीर (प्रकृति) सम्बन्धी आश्रम-धर्म, जो देश, जाति और काल से बदलने वाला है।

अध्याय २ (सांख्ययोग) –

- स्वधर्म-पालन में बाधक मोह के नाश के उपाय -
    - सांख्य-सिद्धांत (ज्ञान-योग अथवा सन्यास-योग) -
        - आत्मा की अमरता, अखण्डता और व्यापकता का सतत विवेक, और उस विवेक से अहंकार (अहंता और ममता) का नाश।
        - देह का परिणामी और क्षण-भंगुर होने का विवेक।
    - योग-कला (कर्म-योग) -
        - स्थितप्रज्ञ होकर अर्थात् बुद्धि से मन और मन से इन्द्रियों का निग्रह करते हुए अन्तःकरण को स्वाधीन कर के, द्वन्द सह कर, निष्काम-भाव से कर्म करना, और भक्ति से अहंकार पर विजय पाते हुए देह को स्वधर्म के लिये उपयोग करना।
- संपूर्ण जीवन-शास्त्र = निर्गुण सांख्य-सिद्धांत + सगुण योग-कला + साकार स्थितप्रज्ञ।
- अहंकार से विषय-ध्यान, विषय-ध्यान से विषय-आसक्ति, विषय-आसक्ति से कामना, कामना में विघ्न पड़ने से क्रोध, क्रोध से सम्मोह (मोह), सम्मोह से स्मृति-भ्रम, स्मृति-भ्रम से बुद्धि-नाश, बुद्धि-नाश से व्यावहारिक और परमार्थिक जीवन का पतन हो जाता है।

अध्याय ३ (कर्मयोग) –

- मनुष्य गुणों द्वारा परवश हुआ कर्म करने से बाध्य है, परन्तु योगी और भोगी के साधन और साध्य में अन्तर होता है –
    - भोगी भोजन (साध्य) के लिये कर्म (साधन) करता है।
    - योगी कर्म (साध्य) अर्थात् स्वधर्म-पालन के लिये भोजन (साधन) करता है। योगी का कर्म अपने शरीर के निर्वाह, चित्त-शुद्धि, समाज-कल्याण और दूसरों के लिये आदर्श-स्थापना के लिये होता है।

गीता-सार

- कर्म दर्पण समान है, जो हमें हमारे चित्त की शुद्धता को नापने और चित्त-शुद्धिकरण में सहायक होता है।
- इन्द्रियों का विषय में राग और द्वेष तथा उनके पीछे काम छिपा रहता है, जो ज्ञान को आच्छादित करके जीवात्मा को मोहित करता है। शरीर से श्रेष्ठ इन्द्रियाँ, इन्द्रियों से श्रेष्ठ मन, मन से श्रेष्ठ बुद्धि, बुद्धि से श्रेष्ठ आत्मा है। इसलिये आत्मा में स्थित रहकर, बुद्धि से मन और मन से इन्द्रियों को वश में करके काम-शत्रु का वध कर देना चाहिए।

अध्याय ४ (ज्ञानकर्मसन्यासयोग) –

- अकर्म (निष्काम या सहज कर्म) = स्थूल कर्म (स्वधर्म) + सूक्ष्म विकर्म (शुद्ध-चित्त से भावना)। कर्मरूपी नोट पर विकर्म (भावना) की मुहर का महत्त्व होता है। चित्त को शुद्ध करने के लिये कामना त्याग कर के राग, द्वेष और क्रोध पर विजय पाने की आवश्यकता है।

अध्याय ५ (कर्मसन्यासयोग) –

- कर्म-योग (सगुण) = सब कुछ कर के कुछ ना करना, जो साधकों के लिये सुलभ, सहज, स्वाभाविक और श्रेष्ठ साधन है।
- सन्यास-योग (निर्गुण) = कुछ ना करते हुए सब कुछ कर करना, जो निष्ठा अथवा साध्य अर्थात् साधना की अंतिम अवस्था है, जिसमें सर्व संकल्पों का त्याग हो जाता है।

अध्याय ६ (आत्मसंयमयोग) –

- विकर्म का साधन एकाग्र-चित्त, जो ध्यान योग अर्थात् त्रिविध योग से प्राप्त होता है -
    - चित्त की चंचलता पर अंकुश अर्थात् शुद्ध व्यवहार जो परमार्थ ही है।
    - सतत, नियमित और परिमित आचरण अर्थात् इन्द्रियों पर सतत पहरा रखना।
    - सम-भाव और परमात्मा की सर्वव्यापकता का सतत अनुभव करना।
- इनमें विध्वंसक-वैराग्य (अर्थात् घास उखाड़ना) और विधायक-अभ्यास (अर्थात् बीज बोना) सहायक होते हैं।

अध्याय ७ (ज्ञानविज्ञानयोग) –

- विकर्म के लिये एकाग्रता के साथ साथ भक्ति की आवश्यकता है।
- भक्ति -
    - निष्काम और सकाम, यह दो प्रकार की भक्ति होती हैं।

- सकाम से ही निष्काम की यात्रा आरम्भ होती है।

- भक्त के प्रकार -
  - अर्थार्थी अर्थात् संसारिक पदार्थों के लिये परमात्मा को भजने वाला।
  - आर्त अर्थात् सङ्कट निवारण के लिये परमात्मा को भजने वाला।
  - जिज्ञासु अर्थात् यथार्थरूप से जानने की इच्छा से परमात्मा को भजने वाला।
  - श्रेष्ठ-ज्ञानी अर्थात् ईश्वर की सर्वज्ञता में स्थित रहना और उस कारण-रूप अखण्ड आत्मा में स्थित अष्टधा और दुहरी प्रकृति की लीला को साक्षी-भाव से देखना।

अध्याय ८ (अक्षरब्रह्मयोग) –

- जन्म-मरण चक्र में जो संस्कार प्रधान-रूप से मृत्यु के समय उपस्थित रहता है, वह गति का कारण होता है। इस लिये जीवन में सतत और प्रतिक्षण ये अभ्यास करने चाहियें -
  - शुभ संस्कारों का संचय।
  - भीतर (मन) से सतत ईश्वर-स्मरण (विकर्म) और बाहर (देह) से सेवारूपी स्वधर्माचरण।अक्षर ब्रह्म का ध्यान –
    - नाम अर्थात् ॐ से।
    - तत्त्व-स्मरण अर्थात् उदासीन, अखण्ड, पूर्ण, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, नित्य, सत्य, कल्याणकारी, अधिष्ठाता और नियन्ता।
  - आसक्ति का त्याग।

अध्याय ९ (राजविद्याराजगुह्ययोग) –

- राज योग = कर्म योग + भक्ति योग अर्थात् कर्म और कर्म-फल ईश्वर-समर्पण।

अध्याय १० (विभूतियोग) –

- ईश्वर की सर्वव्यापकता का अनुभव -
  - स्थूलरूप में प्रत्येक मानव, प्राणि और सृष्टि में।
  - तत्पश्चात् स्थूल से सूक्ष्म में अनुभव करना।

गीता-सार

अध्याय ११ (विश्वरूपदर्शनयोग) –

- ईश्वर का समग्र विराट् विश्वरूप अर्थात् सर्वव्यापकता (देश से) और नित्यता (काल से)।
- अंश में पूर्ण के दर्शन संभव है।

अध्याय १२ (भक्तियोग) –

- भक्ति का उद्देश्य इन्द्रियों को विषयों में ना भटकने देना है, जो सगुण (कर्म-योग) से निर्गुण (सन्यास-योग) की यात्रा है, जो एक-दूसरे के परिपूरक हैं -
    - सगुण - ईश्वर की सेवा में इन्द्रिय-समर्पण (भक्तिमय) जो सुलभ है। इस भक्ति में मन के सूक्ष्म मल को मिटाने का सामर्थ्य है।
    - निर्गुण - ईश्वर की सेवा में इन्द्रिय-निग्रह (ज्ञानमय), जो साधकों के लिये कठिन है।

अध्याय १३ (क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग)–

- तत्त्व-ज्ञान यानी तत्त्वमसि -
    - क्षेत्र देह से देह-आसक्ति (जो भय का कारण है) त्याग कर उसे साधन रूप में उपयोग करना। त्रिगुणात्मक मूल-प्रकृति, पाँच महाभूत, अहंकार, बुद्धि, दस इन्द्रियाँ, मन और पाँच इन्द्रियों के विषय अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, ये क्षेत्र का स्वरूप है। इन सबसे से इच्छा, राग, द्वेष आदि विकार उत्पन्न होते हैं।
    - अलिप्त आत्मा क्षेत्रज्ञ है, जो साध्य है।
- अखण्ड आत्मा ही -
    - देह-आसक्ति के तल पर उपद्रष्टा है।
    - नैतिकता के तल पर अनुमंता है।
    - धारण-पोषण के तल पर भर्ता अर्थात् सहायक है।
    - जीवन में फल-त्याग के तल पर भोक्ता है।
    - अधिष्ठाता व नियन्ता होने से महेश्वर है।
    - सत्-चित्त्-आनन्द होने से परमात्मा है।

अध्याय १४ (गुणविभागयोग) –

- रजस् और तमस् को मिटाना (विनाशक साधन) और अलिप्त रह कर सत्त्व की पुष्टि (विधायक साधन) –

गीता-सार

- मोहित करने वाले तमस् का फल अज्ञान है। अज्ञान से प्रमाद और आलस्य (अकर्तव्य) का बन्ध है, जो शारीरिक श्रम से जीता जा सकता है।
- रजस् का फल कामना और आसक्ति है। कामना और आसक्ति से कर्मों के फल का बन्ध (लोभ, विषयों की लालसा और सकाम कर्मों से) और अस्थिरता होती है, जो कर्म-योग (स्वधर्म-पालन) से जीते जा सकते हैं।
- सत्त्व का फल सुख और ज्ञान है। सुख और ज्ञान से अभिमान और आसक्ति का बन्ध होता है, जो सातत्य-योग और ईश्वर को फल-समर्पण से जीते जा सकते हैं। सत्त्व की प्रधानता से विवेक का प्रकाश और वैराग्य उत्पन्न होता है।
- अन्त में आत्म-ज्ञान (दृष्टा अथवा समत्व-योग से) और भक्ति से गुणातीत हो जाना है।

अध्याय १५ (पुरुषोतमयोग) –

- पुरुषोत्तम-योग = सेवक अक्षर पुरुष, सेव्य पुरुषोत्तम परमात्मा की क्षर सृष्टि से सेवा-साधना करता है। सर्वत्र में भक्ति, ज्ञान और कर्म की त्रिपुटि है अर्थात् प्रत्येक कर्म सेवामय, प्रेममय और ज्ञानमय होना चाहिए।

अध्याय १६ (दैवासुरसम्पद्विभागयोग) –

- शास्त्र द्वारा प्रमाणित दैवी सम्पदाओं का विकास करना, जो मुक्ति का कारण हैं -
  - भक्ति, ज्ञान और कर्म।
  - निर्भयता जिसको आगे रखने से प्रगति होती है।
  - अहिंसा और सत्य को बीच में।
  - नम्रता को सबसे पीछे रखने से बचाव होता रहता है।
- आसुरी सम्पदाओं, जो बन्ध का कारण हैं, जैसे अहंकार, अज्ञान, काम, क्रोध, लोभ आदि को संयम से जीतना चाहिए।

अध्याय १७ (श्रद्धात्रयविभागयोग) –

- नित्य और नियमित कार्य-क्रम में बंधा हुआ मन मुक्त और प्रसन्न होता है। इसके लिये यज्ञरूपी कर्म से निम्न संस्थाओं की क्षति-पूर्ति से संस्थाओं को साम्यावस्था में लाना चाहिए -
  - शरीर-संस्था (शरीर, वाणी और मन) का शुद्धिकरण तप और शुद्ध आहार से।
  - समाज-संस्था से ऋण-मुक्त होने के लिये तन, मन और धन से दान।
  - ब्रह्मांड-संस्था का निर्माण यज्ञ से।

गीता-सार

- उक्त कर्मों के मूल में सात्त्विकता, श्रद्धा और फिर ईश्वरार्पणता अर्थात् ॐ तत्सत् (ॐ = परमात्मा और सातत्य, तत् = अलिप्तता, सत् = सात्त्विकता)। यज्ञ में सात्त्विकता अर्थात् निष्कामता (तमस्-रहित) और सकामता (रजस्-रहित) का आभाव होत है। स्वार्थ (मैं) + परार्थ (तू) = परमार्थ (समग्रता) की भावना अर्थात् यज्ञ में अग्नि, पात्र, पदार्थ, कर्ता, आहुति, क्रिया और फल ब्रह्म ही हैं।

अध्याय १८ (मोक्षसन्न्यासयोग)–

- कर्म सिद्धि हेतु अधिष्ठान (अर्थात् शरीर और देश), कर्ता, करण (अर्थात् बहिःकरण और अन्तःकरण), चेष्टा और दैव (अर्थात् संस्कार), ये पाँच कारण हैं। ज्ञाता + ज्ञान + ज्ञेय द्वारा कर्म प्रेरणा है, और कर्ता + करण + क्रिया से कर्म संग्रह होता है। इसमें अकर्तापन कर्म संग्रह को रोकने का उपाय है।
- सतत स्वधर्म की अबाध्यता अर्थात् अधर्म और परधर्म का त्याग।
- सत्त्व, रजस् और तमस् कर्म फल-त्यागपूर्वक करने चाहिए।
- रजस् और तमस् प्रधान कर्म का त्याग कर देना चाहिए। असल में फल-त्याग की कसौटी से रजस् और तमस् प्रधान (अर्थात् काम्य और निषिद्ध) कर्मों का अपने आप त्याग हो जाता है।
- सदोष होने पर भी सहज और स्वाभाविकरूप से प्राप्त सत्त्व-प्रधान शास्त्रविहित यज्ञ-दान-तपरूप कर्तव्य-कर्मों (अर्थात् प्रायश्चित्त, नित्य और नैमित्तिक) को करना चाहिए, परन्तु ईश्वरार्पण द्वारा कर्म-फल, कर्म-आसक्ति, कर्तापन और कर्म-फल-त्याग के अभिमान का त्याग करना चाहिए।
- सतत फल-त्याग से चित्त-शुद्धि होती है, और शुद्ध चित्त से अकर्तापन से किये गये कर्म में क्रिया तीव्र से सौम्य, सौम्य से सूक्ष्म और सूक्ष्म से शून्य हो जाती है, परन्तु कर्म चलता रहता है, जो सिद्ध पुरुष अर्थात् साधना की पराकाष्ठा अथवा अक्रिया की अवस्था है।

-ॐ-